साम्प्रदायिकता की समस्या
के प्रसंग में

शिवदास घोष

साम्प्रदायिकता की समस्या के प्रसंग में

मरणासन्न पूंजीवाद फूटपरस्त मानसिकता पैदा करता है। साम्प्रदायिकता, सम्प्रदायों में आपसी फूट और इलाकापरस्ती की बुराई जनता के एकजुट आन्दोलन गठित करने के मामले में जबरदस्त रुकावट के तौर पर काम करती है। दूसरी ओर, जिन सब देशों में समाज का जनवादीकरण अधूरा रह गया है, उन सब देशों में इसकी तीव्रता और भी ज्यादा है। इस लिखित भाषण में साम्प्रदायिकता की समस्या पर विचार करने के वैज्ञानिक दृष्टिकोण, इसके कारणों और इस बुरे खतरे को समाज से सदा-सदा के लिए मिटा डालने के तौर-तरीकों के बारे में चर्चा की गयी है।

प्यारे दोस्तो और प्रतिनिधियो,

आपके इस राष्ट्रीय जनतांत्रिक कन्वेंशन के प्रतिनिधि के तौर पर मुझे चुना गया—इसके लिए मैं आपका आभारी हूं। भारत में रहने वाले विभिन्न समुदायों के बीच शांति और मैत्री की रक्षा के लिए इस कन्वेंशन द्वारा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संग्राम की जो घोषणा की गयी है, उसके उद्देश्यों का मैं पूर्ण समर्थन करता हूं। काश! मैं व्यक्तिगत तौर से इस कन्वेंशन में मौजूद रहकर चर्चा-बहस में भाग ले सकता तो यह मेरे लिए बहुत खुशी की बात होती। परंतु पूर्व-निर्धारित कार्यों में व्यस्त होने की वजह से मेरे लिए कन्वेंशन में व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होना मुमकिन नहीं है। इसलिए मैं अपने देश के साम्प्रदायिकता के मसले पर अपना अभिमत आपके सोचने-विचारने के लिए भेजने की इजाजत चाहता हूं। मैं इस अवसर पर अपनी खुद की तरफ से और हमारी पार्टी 'सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर ऑफ इण्डिया' की तरफ से इस जनतांत्रिक कन्वेंशन का

बिरादराना अभिनन्दन करते हुए इसकी शानदार सफलता की कामना करता हूं।

महज मानवीय अपीलों से काम नहीं चलेगा

दोस्तो, समस्या की गंभीरता को किसी भी तरह कम करके देखने से काम नहीं चलेगा। हमारे देश की जनता के हित में जो निहायत जरूरी है, वह है वैज्ञानिक रास्ते से साम्प्रदायिक दंगे-फसाद जैसी खतरनाक सामाजिक व्याधि के कारणों का पता लगाना तथा उसके इलाज के लिए सही तरीका अख्तियार करना। अगर साम्प्रदायिकता और उसके साथ अवश्यम्भावी रूप से जुड़ी हुई बुराइयों की भर्त्सना करने एवं साम्प्रदायिक शांति और एकता कायम करने की पवित्र इच्छा जाहिर करने से ही इस राष्ट्रीय जनतांत्रिक कन्वेंशन का फर्ज पूरा हो जाता है, तो यह अपने घोषित उद्देश्यों को पूरा करने में नाकाम साबित होगा। क्योंकि साम्प्रदायिकता की भर्त्सना एवं विभिन्न सम्प्रदायों के बीच शांति और मैत्री की महिमा का गुणगान करते हुए मंचों से भाषणबाजी के जरिये अगर साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या का समाधान संभव होता, तो यह समस्या इस देश से कभी की मिट गयी होती। क्या देशबंधु चितरंजन दास, महात्मा गांधी और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जैसे समर्थ नेताओं ने, जिन्हें भारी तादाद में जनसमर्थन हासिल था, साम्प्रदायिकता, साम्प्रदायिक हिंसा की भर्त्सना नहीं की थी और हमारे देश के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच शांति और सौहार्द बनाये रखने की आवश्यकता पर जोर नहीं दिया था? परंतु उन सब भाषणों और अपीलों का नतीजा क्या निकला? आज हम अपने वांछित लक्ष्य से उतने ही दूर हैं, जितने कल थे। अभी भी हमारे देश की जनता पर साम्प्रदायिकता का खतरनाक असर मौजूद है। पहले की तरह जरा-से उकसावे पर ही साम्प्रदायिकता जघन्यतम दरिंदगी और दंगे-फसाद का रूप धारण कर लेती है। हमारे देश में साम्प्रदायिकता की समस्या को हल न कर पाने के पीछे यह कारण नहीं है कि इन नेताओं में लगन की कमी थी, बल्कि साम्प्रदायिकता के कारणों का सही पता लगाने और उसके हल के लिए सही कार्यक्रम को अमल में लाने में इनकी

असमर्थता ही मुख्य कारण रही। जब ऐसी ताकतवर हस्तियां भी राष्ट्रहित, धार्मिक-सहिष्णुता और मानवीय मूल्यों के नाम पर अपील करके साम्प्रदायिकता का उन्मूलन न कर सकीं, तब देश के लिए जरूरी सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के अधूरे पड़े हुए कामों को पूरा करने की तकलीफदेह प्रक्रिया से बचकर यदि हम भी उसी रास्ते का अनुसरण करें, तो हम भी किसी बेहतर नतीजे की उम्मीद नहीं कर सकते हैं।

सही तरीका अपनाना ही एकमात्र रास्ता

साथियो, यदि अपने हार्दिक विश्वास को प्रकट करते हुए मेरी ओर से आप में से किसी की भावना को ठेस लग जाये तो कृपया मुझे गलत न समझ बैठिए। एक बिरादराना नुमाइन्दे की हैसियत से साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक दंगों के बुरे नतीजों के प्रति आपकी चिंता एवं देश के सामाजिक-राजनैतिक जीवन से उन्हें नेस्तनाबूद करने के आपके फौलादी इरादों और जज्बातों में भागीदार होने के नाते मेरा नम्र निवेदन है कि आप मुझे वैज्ञानिक मानसिकता के साथ पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सुनें। मेरे अभिमत को अस्वीकार करने का आपको पूरा हक है, लेकिन अस्वीकार करने से पहले इसे इतिहास व युक्ति-तर्क विज्ञान की कसौटी पर कसने का कष्ट करें।

अक्तूबर 1964 में कलकत्ता के 'दिल्ली हॉल' में सम्पन्न हुए राष्ट्रीय जनतांत्रिक कन्वेंशन के कुछ प्रमुख आयोजकों के भाषणों को सुनने और कन्वेंशन के घोषणा-पत्र के मसविदे को पढ़ने का सौभाग्य मुझे मिला था। मेरी यह राय है कि राष्ट्रीय जनतांत्रिक कन्वेंशन के ये सब नेतागण और आयोजकगण धार्मिक सहिष्णुता व सद्भावना और हमारे अवाम के राष्ट्रवादी जज्बात को उभारने के लिए केवल मानवीय अपीलों के सहारे ही साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने की कोशिश कर रहे हैं। मुझे उनकी निष्ठा पर तनिक भी संदेह नहीं है, लेकिन मैं यह जरूर कहूंगा कि जो रास्ता उन्होंने अपनाया है, उस पर चलने से विफलता निश्चित है, जैसा कि पहले भी हो चुका है। क्योंकि यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है। प्रायः सभी धर्मों के पैगम्बरों और महापुरुषों ने क्या हमें धार्मिक सहिष्णुता

बरतने की शिक्षा नहीं दी है? लेकिन फिर भी उनके उपदेश हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन से साम्प्रदायिकता का जहर उतारने में जरा भी उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि उनमें लगन-निष्ठा की कोई कमी थी, बल्कि इसका कारण साम्प्रदायिकता की समस्या को गहराई से समझना और उसे हल करने का सही तरीका अपनाने में उन लोगों का अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रहा है। अत: यह समझना निहायत जरूरी है कि समस्या के समाधान के लिए केवल सही तौर-तरीका अख्तियार करना ही बुनियादी महत्व रखता है। इसलिए यह कन्वेंशन अगर सचमुच ही कुछ करना चाहता है, तो इसे इतिहास सम्मत और समाजविज्ञान-सम्मत रास्ते से हमारे देश की साम्प्रदायिकता की समस्या के मूल कारण का विश्लेषण करना होगा और उसे जड़ से खत्म करने के लिए सही कार्य-पद्धति अपनानी होगी। केवल धार्मिक सहिष्णुता की अपीलों से यह समस्या हल नहीं होगी। अपितु सही पद्धति अपनाने से ही विभिन्न सम्प्रदायों में बंटे जनसाधारण के सामूहिक, संयुक्त संघर्षों को जन्म देने के जरिये धीरे-धीरे जनवादी चेतना का उन्मेष होने लगेगा और धार्मिक सहनशीलता आयेगी।

राष्ट्रीय नेतृत्व की नाकामी

मूल मुद्दे पर आने से पहले मैं हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों के उस तबके की पुरजोर भर्त्सना करना अपना फर्ज समझता हूं जो इतिहास के नाम पर इतिहास को झुठलाता है और दावा करता है कि हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच राष्ट्रीय एकीकरण तो दूर रहा, इनके बीच किसी भी तरह का मिलन संभव नहीं है। दरअसल ये दोनों सम्प्रदायों के चरम प्रतिक्रियावादी हिस्से हैं। चाहे वे कितनी भी ऊंची आवाज में, कितने भी जोरशोर से यह बात क्यों न कहें, उनका ऐसा कहना न तो तर्कसंगत है और न ही तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं। यह खुंखार जानवर की गुस्से भरी हुंकार के सिवा और कुछ नहीं है। इस सत्य को हम कैसे नकार सकते हैं कि बर्मा की जनता का एक विशाल हिस्सा मुस्लिम होने के बावजूद वहां समूची जनता एक राष्ट्र के तौर पर उभरकर आयी। इण्डोनेशियाई जनता का व्यापक हिस्सा मुस्लिम

होने के बावजूद वहां की जनता भी एक राष्ट्र के तौर पर उभरकर आयी। चीन और सोवियत संघ में मुस्लिम आबादी कोई कम नहीं है, फिर भी इनकी जनता अखण्ड राष्ट्रों के रूप में उभर पायी। इनमें से किसी देश में भारत और पाकिस्तान की तरह मुस्लिम और गैर-मुस्लिम जनता के बीच रह-रह कर साम्प्रदायिक दंगे नहीं हुआ करते। इनमें से किसी भी देश की मुस्लिम जनता ने पृथक राष्ट्रीयता की मांग कभी नहीं की, जैसा कि अविभाजित भारत में मुस्लिम जनता की ओर से प्रतिक्रियावादी मुस्लिम नेताओं ने की थी।

इनमें से किसी भी देश में हमारे देश की तरह मुस्लिम और गैर-मुस्लिम आबादी के आधार पर बंटवारा नहीं हुआ। मैं जानता हूं, इस तरह का तर्क दिया जा सकता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपने आर्थिक स्वार्थ में और अपने औपनिवेशिक शासन को लम्बे अरसे तक टिकाये रखने के मकसद से इस देश में जनता के बीच 'फूट डालो-राज करो' (Divide &Rule) की नीति अपनायी और मुस्लिम तबके को जानबूझकर राष्ट्रीयतावादी आन्दोलन के विरुद्ध खड़ा किया। निसंदेह, यह बात सच है। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने 'फूट डालो-राज करो' की यह नीति क्या बर्मा के मामले में भी नहीं अपनायी थी? क्या यह हकीकत नहीं कि पुर्तगाली साम्राज्यवादियों ने भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जूझ रही इण्डोनेशियाई जनता की एकता में दरार पैदा करने की कोशिश में भारत के अंग्रेज शासकों से कोई कम सक्रियता नहीं बरती थी? तब इन सब देशों में से केवल भारत में ही साम्प्रदायिकता की इस विशेष समस्या का सामना क्यों करना पड़ा? इसके परिणामस्वरूप देश में बार-बार साम्प्रदायिक दंगे-फसाद हुए, मुस्लिम जनता ने अलग राष्ट्र की मांग की और अंततः धर्म के आधार पर देश का विभाजन हुआ। भारतीय परिस्थिति की इस विशेषता की व्याख्या करते हुए सिर्फ ब्रिटिश शासकों की 'फूट डालो-राज करो' की नीति की दुहाई देना आत्म-प्रवंचना के सिवा और कुछ नहीं है और इसके द्वारा इस सत्य को नकारना हो जायेगा कि हमारे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में शुरू से अंत तक कुछ बुनियादी कमजोरियां थीं। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की ओर से देश में साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन को कमजोर करने के अन्यतम उपाय के तौर पर

विभिन्न सम्प्रदायों के बीच, खासकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच स्थाई विरोध जारी रहने की स्थिति पैदा करना और साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों की एकता को कमजोर करना एवं इसके द्वारा भारत में राष्ट्र गठन की प्रक्रिया में गतिरोध उत्पन्न करना अत्यंत स्वाभाविक था। एक निपट मूर्ख ही तत्कालीन साम्राज्यवादी शासकों से इससे बेहतर बर्ताव की अपेक्षा रख सकता है। इसके अलावा लगभग हर औपनिवेशिक देश में हमेशा कुछ राष्ट्र-विरोधी ताकतें और तत्व रहते ही हैं, जो साम्राज्यवाद के साथ सांठगांठ और राष्ट्रीय-आजादी आन्दोलन का विरोध किया करते हैं। हमारे देश में साम्राज्यवाद के साथ समझौतापरस्त इस राष्ट्र-विरोधी तबके के प्रतिनिधि राजा, नवाब, जमींदार, दलाल पूंजीपति (Comprador Bourgeoisie) बड़े-बड़े अधिकारी तथा साम्राज्यवाद के एजेण्टों को यह अहसास था कि उनके निहित स्वार्थों को महफूज रखने के लिए भारत में साम्राज्यवादी शासन की आवश्यकता है। लिहाजा इन तमाम तत्वों और ताकतों की राष्ट्र-विरोधी भूमिका एकदम अप्रत्याशित नहीं थी। ऐसे हालात में राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा से मुस्लिम जनता को अलग-थलग कर उसे राष्ट्रवादी ताकतों के खिलाफ इस्तेमाल करने के लिए साम्राज्यवादी शासक तथा उसके पिट्ठू कुचेष्टा करेंगे ही। यह तो जानी हुई बात थी। साम्राज्यवादी शासकों तथा उनके पिट्ठुओं की इन कुचेष्टाओं को रोकने के लिए हमारे देश के राष्ट्रवादी नेतृत्व ने क्या कोई वास्तविकता से मेल खाता रास्ता लिया था? अगर नहीं लिया, तो केवल साम्राज्यवादी ताकतों पर इसका दोष थोपकर हम आत्म-संतुष्ट भले ही हो सकते हैं, लेकिन उसके द्वारा समस्या का असली कारण निर्धारित करना संभव नहीं है। इसलिए हमारे आजादी आन्दोलन के समय साम्राज्यवादियों की साजिश को नाकाम करके दोनों सम्प्रदायों के बीच एकता कायम करने में हम आखिरकार क्यों नाकाम हुए, यह बारीकी से विचार-विश्लेषण करके देखना मेरे ख्याल से साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के मामले में आज हमारा लाजिमी फर्ज बनता है।

भारत में राष्ट्र गठन का इतिहास

इस विफलता का कारण दरअसल हमारे देश के राष्ट्रीय आजादी

आन्दोलन के नेतृत्व की अपनी प्रकृति में ही निहित है। हमारे कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकार कितने ही जोरशोर से दावा क्यों न करें, लेकिन यह अत्यंत कटु सत्य है कि प्राक्-ब्रिटिशकाल में भारत राजनैतिक रूप से कभी भी एक अखण्ड राज्य नहीं था। दरअसल उस समय भारत में कई छोटी-बड़ी अलग-अलग देशी रियासतें अस्तित्व में थीं। केवल केन्द्रीयकृत ब्रिटिश शासन के दौरान ही भारत एक अखण्ड राजनैतिक सत्ता के रूप में उभरा, जिसके जरिये आधुनिक अखिल भारतीय चेतना निर्मित होने की वास्तविक परिस्थिति तैयार हुई, जो इससे पहले के समय में नदारद थी। सम्पूर्ण भारत में एक केन्द्रीयकृत ब्रिटिश शासन व्यवस्था लागू होने से आधुनिक संचार व्यवस्था तेजी से विकसित होने लगी। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न भाषा-भाषी जनसाधारण के बीच घनिष्ठतर संबंध सूत्र स्थापित होने लगे एवं विभिन्न उपराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के बीच अखिल भारतीय पैमाने पर व्यापार-वाणिज्य के आदान-प्रदान के मार्फत धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय बाजार की उत्पत्ति हुई और राष्ट्रीय पूंजी का जन्म हुआ। फलस्वरूप केन्द्रीय ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन और शोषण की व्यवस्था के खिलाफ विभिन्न भाषा-भाषी उपराष्ट्रीय जनसाधारण के बीच राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन चलने के दौरान भारत की विभिन्न भाषा-भाषी उपराष्ट्रीयताएं और विभिन्न धर्मावलंबी सम्प्रदाय परस्पर विलयित होकर एक राष्ट्र के रूप में उभर रहे थे। अगर हमारे देश के राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के बजाय मजदूर वर्ग के हाथों में होता, तो न केवल साम्राज्यवाद को जड़ से उखाड़ फेंकना संभव हुआ होता, बल्कि इसके साथ-साथ देश के विकास को गैर-पूंजीवादी रास्ते पर ले जाना तथा उपराष्ट्रीय, साम्प्रदायिक एवं जातिगत समस्याओं का भी हमेशा के लिए समाधान संभव हुआ होता जैसा कि सोवियत रूस और चीन में हुआ। लेकिन भारत के क्रांतिकारी मजदूर आन्दोलन की कमजोरी एवं कम्युनिस्ट पार्टी नामधारी राजनैतिक पार्टी की मौकापरस्त राजनीति और कभी-कभी यहां तक कि आजादी आन्दोलन के प्रति उसके विश्वासघात की वजह से इस देश के राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हाथों में ही रह गया। मूलतः इसी वजह

से भारत की साम्प्रदायिकता की समस्या का निदान न हो सका और आज भी यह बरकरार है।

धर्म-वर्णगत एकता कायम करने में राष्ट्रीय नेतृत्व की नाकामी

पहले यह गौरतलब है कि भारत में राष्ट्र गठन की धारा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुई, जब पूंजीवाद विश्व सामाजिक शक्ति के रूप में न केवल अपना क्रांतिकारी चरित्र खो चुका था, बल्कि वह निश्चित तौर पर क्रांति-विरोधी ताकत में भी तब्दील हो चुका था। इस आम चरित्र के अलावा भारतीय पूंजीवाद की अपनी एक खासियत भी थी। जहां पश्चिमी पूंजीवाद स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ, वहीं इसके विपरीत भारतीय पूंजीवाद सामंती संबंधों से घिरे हुए माहौल में और विदेशी वित्तीय पूंजी (Finance Capital) की छत्रछाया में पनपा और उभरा। इसलिए इसका विकास अवरुद्ध हो गया और यह बौना रह गया। हालांकि भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राष्ट्रवादी तबके का साम्राज्यवाद के खिलाफ आन्दोलन की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यहां उसका अपना वर्ग शासन कायम करने और उसके द्वारा भारतीय जनता का मनमाना शोषण करने के मार्ग में ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन एक दुर्गम बाधा के तौर पर खड़ा था। परंतु साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के इस युग में तमाम औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग की तरह भारतीय बुर्जुआ वर्ग भी साम्राज्यवाद के खिलाफ क्रांतिकारी जन आन्दोलन से बुरी तरह भयभीत था। क्योंकि उसे भय था कि अगर आजादी के लिए भारतीय जनता का क्रांतिकारी संघर्ष सफल हो गया, तो वह इस देश में न केवल साम्राज्यवादी शासन का ही अंत कर देगा, बल्कि साथ ही साथ राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को भी आन्दोलन के नेतृत्व से हटाकर विकास का गैर-पूंजीवादी रास्ता अख्तियार करने का रास्ता खोल देगा और भारत में पूंजीवादी शासन की स्थापना की सारी संभावनाओं पर पानी फेर देगा। एक तरफ साम्राज्यवाद से विरोध और दूसरी तरफ साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता के क्रांतिकारी आन्दोलन के जानलेवा डर ने भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राष्ट्रवादी हिस्से को साम्राज्यवाद के

खिलाफ सुधारवादी किस्म के विरोधी (Reformist Oppositional) की भूमिका में ला खड़ा किया। सामंतवाद के प्रति भी उसका रुख उतना ही समझौतापरस्त था। इसी वजह से भारतीय पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और सामंतवाद से समझौता करके उभरना चाहा। सामंतवाद से समझौता करने का नतीजा यह हुआ कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा समाज के जनवादीकरण के लिए अपेक्षित सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के निहायत जरूरी कार्यों को पूरा करने और विभिन्न भाषा-भाषी उपराष्ट्रीयताओं और विभिन्न धर्मावलम्बी सम्प्रदायों को एक राष्ट्र के रूप में एकीकृत करने का काम पूरा करना संभव नहीं था और यह काम खटाई में पड़ गया। साम्राज्यवाद के खिलाफ राजनैतिक आन्दोलन चलाने के दौरान विभिन्न भाषा-भाषी और विभिन्न धर्मावलम्बी भारतीय जनता राजनैतिक तौर पर एक राष्ट्र के रूप में तब्दील तो हो गयी, परंतु राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में परिचालित राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन में सामंतवाद, सामंती फूट एवं धार्मिक बंधनों के खिलाफ सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति को पूरा करते हुए समाज के जनवादीकरण के काम की पूरी तरह अवहेलना करने की वजह से भारतीय जनता सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में धर्म, जाति, भाषा व नस्ल के आधार पर अलग-अलग समुदायों में बंटी रह गयी।

हिन्दू धार्मिक प्रभाव से घिरा है भारतीय राष्ट्रवाद

महज इतना ही नहीं, भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व ने सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति का कार्यक्रम सम्पन्न करने के जरिये जनसाधारण को धर्म के बंधन से मुक्त करने और समाज का जनवादीकरण करने की कोशिश तो की ही नहीं, बल्कि इसके विपरीत इसने धर्म को राष्ट्रवादी विचारधारा फैलाने के लिए एक माध्यम के रूप में अपनाया। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद मूलतः धार्मिक प्रभाव से घिरा रहा। धर्मोन्मुख राष्ट्रवाद (Religion Oriented Nationalism) की अभिव्यक्ति हिन्दू धर्म के पुनरुत्थानवाद के रूप में हुई। इस हिन्दुत्व पुनरुत्थानवादी भारतीय राष्ट्रवाद ने गैर हिन्दू जनता के मन में जो प्रतिक्रिया पैदा की, प्रधानतः वही इस देश के राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन से उन्हें (गैर-हिन्दुओं), खासकर मुस्लिम जनता को दूर रखने के लिए जिम्मेदार है। इसके

अतिरिक्त इसने ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों व राष्ट्रवाद-विरोधी साम्राज्यवाद के दलाल मुस्लिम नेताओं को पूरा मौका दे दिया। इससे उनके लिए मुस्लिम जनता के मन में यह बात बिठाना सहज हो गया कि जब कांग्रेस के नेतृत्व में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवादी हुकूमत से आजाद हो जायेगा, तब यह हिन्दू शासन ब्रिटिश शासन से कुछ कम स्वेछाचारी नहीं होगा, जहां किसी भी मुसलमान को सुरक्षा और धार्मिक विश्वास की आजादी नहीं होगी। ऐसी स्थिति में भारत के मुसलमानों द्वारा अपने खुद के अलग राष्ट्र की जो मांग उठायी गयी, उसके लिए अपनी गलती को नजरअंदाज करके पूरा दोष केवल मुसलमानों के मत्थे मढ़ना क्या गलत नहीं होगा? इस संदर्भ में केवल मुसलमानों का ही जिक्र क्यों करें? तथाकथित निम्न जातियों के हिन्दुओं का क्यों नहीं? सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति अधूरी रह जाने के फलस्वरूप हिन्दू समाज के सामाजिक तौर पर पिछड़े हुए तबके के लोग न केवल धार्मिक अंधविश्वासों में ही जकड़े रहे, बल्कि उन्हें तथाकथित ऊंची जाति के हिन्दुओं के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व के अकथनीय दमन, अत्याचार भी झेलने पड़े और इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद अपने आप को हिन्दू धर्म के पुनरुत्थानवाद के उदार रूप में भी व्यक्त न कर सका। जातिगत फूट के खिलाफ और साम्प्रदायिक एकता के लिए गांधीजी और अन्य कुछ नेताओं की विभिन्न कोशिशों के बावजूद यह राष्ट्रवादी आन्दोलन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, (बंगाल में कायस्थों और वैद्यों) और दूसरी-दूसरी तथाकथित ऊंची जातियों के आधिपत्य के आधार पर हिन्दुत्व के पुनरुत्थान के आन्दोलन से वास्तव में किसी हालत में अलग नहीं हो सका। यह सही है कि हिन्दू धर्म के पुनरुत्थानवाद ने धर्म के संबंध में सैद्धांतिक पहलू से जो मनोभाव व्यक्त किया, वह पहले की तुलना में संकीर्ण और उग्र मनोभाव के बजाय धर्म के प्रति कहीं अधिक मानवतावादी और उदार था। परंतु वर्तमान चर्चा में इसका कोई महत्व ही नहीं है। यहां बात हो रही है विभिन्न धर्मावलम्बी जनसाधारण के बीच राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन के नेतृत्व की ओर से जहां धर्म और सभी सामाजिक कुसंस्कारों से ऊपर उठकर राष्ट्रवाद और मानवतावाद के नये मूल्यबोधों के आधार पर जनसाधारण को संगठित करना निहायत

जरूरी था। वहां भारत का राष्ट्रीय नेतृत्व हिन्दू धर्म की सहिष्णुता व उदारता के आधार पर उन्हें एकजुट कर एक राष्ट्र के गठन के लिए प्रयत्नशील हुआ था। सिर्फ इसी वजह से भारत समय के हिसाब से अनुपयोगी मध्ययुगीन इस्लामिक रीति-रिवाजों और दस्तूरों में नयी जान फूंकने के लिए जिस 'खिलाफत' आन्दोलन को, यहां तक कि जनतांत्रिक तुर्की के गठन की जरूरत से कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की राष्ट्र तक ने जिसे बड़े जोरदार ढंग से वर्जित कर दिया था, उस राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्रम में खिलाफत की इस मांग को जोड़ने के सिवा भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व मुस्लिम जनसाधारण का विश्वास अर्जित करने का और कोई रास्ता नहीं निकाल पाया। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता और उदारता के आधार पर राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व की ओर से मुस्लिम जनसाधारण को भारतीय राष्ट्र में एकजुट करने की तमाम कोशिशों अथवा इस्लामिक रीति-रिवाजों को बनाये रखने में मदद करना, जो जनतांत्रिक समाज के गठन की नीति-सिद्धांत के साथ अंसगतिपूर्ण है—इन सब चीजों ने मुस्लिम जनसाधारण और राष्ट्रीय आजादी आन्दोलन के बीच की खाई को और भी ज्यादा गहरा कर दिया। यही अवश्यम्भावी था, क्योंकि धार्मिक रीति-रिवाजों की रक्षा करने की कोशिश करके विभिन्न धर्म, भाषा, जाति और नस्ल के आधार पर बंटी हुई जनता को सही मायने में एकजुट करने के जरिये एक राष्ट्र के गठन को वास्तव में रूप देना कदापि संभव नहीं है। क्योंकि ये सब कोशिशें एकजुट करने के रास्ते में ही बाधा डालती हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति को पूरा करने के रास्ते समाज के जनवादीकरण के जरिये लोगों के सामाजिक क्रियाकलापों के मामले में धर्म को पूरी तरह शक्तिहीन करके ही विभिन्न सम्प्रदायों को एकजुट करके यथार्थ में राष्ट्र गठन संभव है। लेकिन न तो राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व ने भारतीय राष्ट्र गठन के इन निहायत जरूरी कार्यों को पूरा किया और न ही उन ताकतों ने किया जो राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व का वैकल्पिक नेतृत्व गठित करने की बात कहती थीं।

इसलिए सभी सम्प्रदायों को एकजुट करके एक राष्ट्र का गठन संभव नहीं हुआ। इसका कारण यह नहीं था कि नेताओं की ओर से वफादारी की कमी रही, बल्कि मेरा कहना है कि दृष्टिकोण का

धुंधलापन रहने व त्रुटिपूर्ण पद्धति अपनाये जाने के कारण ही विभिन्न सम्प्रदायों को, खासकर मुस्लिम जनसाधारण को आजादी आन्दोलन में शामिल कर एक राष्ट्र के गठन का इनका प्रयास व्यर्थ साबित हुआ। मैं इतिहास से शिक्षा लेने के लिए ही अतीत की घटनाओं का यहां जिक्र कर रहा हूं। सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए जिस राष्ट्रवादी नेतृत्व को धार्मिक रूढ़ियों से ऊपर उठना चाहिए था, उसके द्वारा साम्राज्यवाद व सामंतवाद के खिलाफ अपनी सुधारवादी किस्म के विरोधी की भूमिका अपनाने की वजह से ही ऐसा करना उसके लिए संभव नहीं हुआ। इस तरह अन्दरूनी मामले में इस कमजोरी और दूसरी ओर बाहरी मामले में भारतीय जनता को एक राष्ट्र के रूप में एकताबद्ध करने की जरूरत से रूबरू होने पर राष्ट्रीय नेतृत्व हिन्दू धर्म की सहिष्णुता और उदारता के आधार पर विभिन्न धर्मावलम्बी सम्प्रदायों के लोगों को लामबन्द कर एक राष्ट्र के गठन में जुट गया और यहां तक कि राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व ने सत्ता हासिल करने से पहले यह त्रुटिपूर्ण पद्धति अपनायी थी। सत्तारूढ़ होने के बाद भी उसने अपने आपको सुधारा नहीं, बल्कि हमारे देश के वर्तमान शासक सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के अधूरे कार्यक्रम को पूरा करने के बजाय धर्मनिरपेक्षता के नाम पर हर तरह के धार्मिक रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और कुसंस्कारों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बढ़ावा दे रहे हैं। फलस्वरूप वे असामाजिक तत्वों और समाज-विरोधी मानसिकता को बढ़ावा देने में कारगर रूप से मदद कर रहे हैं। इसके अलावा, इसकी अवश्यम्भावी परिणति के तौर पर हमें देखने को मिलता है कि पूजा-पाठ और धार्मिक आचार-अनुष्ठानों की व्यापकता में आजादी से पहले के दौर की तुलना में कई गुना बढ़ोतरी हुई है। इन लोगों ने धर्मनिरपेक्षता की नीति को दरअसल सभी धर्मों के विकास को समान रूप से प्रोत्साहन देने और विभिन्न धर्मावलम्बियों के धर्म प्रचार व धार्मिक अनुष्ठानों को राज्य द्वारा समान अवसर प्रदान किये जाने की नीति में बदल दिया है। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि ऐसे वातावरण में *हिन्दू-हिन्दी-हिन्दुस्तान* का नारा वास्तव में जोर पकड़ रहा है। यह

समझ लेना चाहिए कि सच्ची धर्मनिरपेक्षता का यह मायने कतई नहीं होता कि राज्य द्वारा व्यक्ति को उसकी धार्मिक आस्था में विश्वास रखने, रीति-रिवाजों का पालन करने और धार्मिक प्रचार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। न ही इसका तात्पर्य यह है कि जनसाधारण में धर्म प्रसार के लिए सभी धर्मों को राज्य का संरक्षण प्राप्त हो। किसी धर्म विशेष में आस्था रखने वाले सम्प्रदाय के लोगों को केवल धर्म के आधार पर विशेष सहूलियतें और रियायतें देना किसी भी मायने में धर्मनिरपेक्षता नहीं है। एक सही धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म को अपने नागरिकों का नितांत व्यक्तिगत मामला मानता है। इसलिए यह न तो व्यक्ति के धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज और धार्मिक प्रचार को किसी तरह प्रोत्साहित करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है। इसके विपरीत, यह एक ओर जहां धर्म में आस्था रखने वाले लोगों को किसी भी धर्म को मानने की पूरी आजादी देता है, वहीं किसी धर्म को न मानने वाले लोगों, नास्तिकों को भी समान अधिकार और स्वतंत्रता की गारंटी देता है। सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति के कार्यक्रम को सफल करने के जरिये यह समाज का जनवादीकरण करता है और व्यक्ति के सामाजिक क्रियाकलापों व राज्य पर से धर्म के प्रभाव को पूरी तरह विलुप्त करता है। हमारे देश के वर्तमान शासक बुर्जुआ वर्ग की हिन्दुत्व पुनरुत्थानवादी मानसिकता की वजह से आज भी भारतीय जनसाधारण सामाजिक व सांस्कृतिक तौर पर विभिन्न समुदायों का जमावड़ा मात्र है, जिसके अंदर भाषा, धर्म, जाति एवं नस्ल के नाम पर फर्क पाया जाता है। जब आधुनिक पश्चिमी राष्ट्र जो सामंतवाद, सामंती फूटपरस्त आचरण-व्यवहार, रीति-रिवाज और राज्य के प्रभाव और सामाजिक आचार-विचार व रीति-रिवाज पर चर्च के प्रभाव आदि के खिलाफ सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति का सफल संचालन करते हुए समाज के जनवादीकरण के जरिये राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आये थे, वे भी धार्मिक कट्टरपन, नस्लवादी दंगे-फसाद (अमेरिका में निग्रो जाति पर अमानवीय अत्याचार और ग्रेट ब्रिटेन के नस्लवादी दंगे-फसाद इसकी मिसाल हैं) आदि से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये थे, तब यह आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि जब सामाजिक व सांस्कृतिक और

भाषागत तौर पर भारतीय राष्ट्र ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य, शूद्र, सवर्ण और अनुसूचित जाति के हिन्दू, मुसलमान, सिख, बौद्ध, जैन व ईसाई, असमिया, बंगाली, ओड़िया, पंजाबी, मराठी और न जाने कितनी श्रेणियों में विभक्त है, तो भारत में साम्प्रदायिकता, जातिवाद और भाषावाद की जड़ें कितनी गहरी हैं। अतः हमारे देश में सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति को सम्पन्न करते हुए समाज का जनवादीकरण करना ही साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने का एकमात्र सही तरीका है।

मैं जानता हूं कि आपमें से कुछ लोग मुझसे पूछ सकते हैं कि पाश्चात्य गणतांत्रिक देशों में, जहां तत्कालीन प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में सामंतवाद-विरोधी क्रांतिकारी संघर्ष चलाने के रास्ते राष्ट्र का गठन हुआ था एवं बुर्जुआ अर्थों में समाज का जनवादीकरण हुआ था, वहां अभी भी नस्लवादी दंगे कैसे होते हैं? इसका कारण ढूंढ़ने के लिए ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं है। यह सच है कि इन पाश्चात्य गणतांत्रिक देशों में इन सामंती फूटपरस्त दस्तूरों, रीति-रिवाजों को दूर कर जनसाधारण को संगठित करने के जरिये राष्ट्र गठन का जहां तक सरोकार है, राष्ट्र गठन की प्रक्रिया मूलतः पूरी हो चुकी है। फलस्वरूप इन देशों में साम्प्रदायिकता या धार्मिक विभेदों का राष्ट्रीय जीवन के व्यापकतर क्षेत्र पर प्रभाव नगण्य है। लेकिन समाज का जनवादीकरण करने के जिस काम की शुरुआत बुर्जुआ वर्ग ने स्वयं ही की थी, उसे पूरा करना आज उसके वश की बात नहीं है। इसलिए पूंजीवादी शासन में जनवादी क्रांति के कुछेक कार्यक्रम अधूरे पड़े रह ही जाते हैं। राष्ट्र की समस्या और बुर्जुआ वर्ग द्वारा घोषित समानाधिकार प्रदान करने की नीति भी उन्हीं अधूरे कामों में से है। तमाम पूंजीवादी देशों में जहां एक से अधिक उपराष्ट्रीयताएं मौजूद हैं, वहां अधिक प्रभावशाली उपराष्ट्रीयता अन्य उपराष्ट्रीयताओं का दमन करती है। इसलिए पूंजीवाद के अंतर्गत जनता न केवल आर्थिक शोषण का शिकार होती है, बल्कि उसे उपराष्ट्रीय उत्पीड़न भी सहना पड़ता है। पाश्चात्य देशों के नस्लवादी दंगे प्रभावशाली उपराष्ट्रीयता द्वारा अल्पसंख्यक उपराष्ट्रीयताओं के इसी तरह के दमन की ही अभिव्यक्ति है। इसके अलावा, जिस

पूंजीवाद ने अपने विकास के एक खास स्तर पर अर्थात शुरुआती दौर में राष्ट्रीय एकीकरण व राष्ट्र गठन की खातिर एक भौगोलिक सीमा के अंतर्गत विभिन्न सम्प्रदायों को एकताबद्ध करने का प्रयास किया था, वही पूंजीवाद अपने विकास के अन्य स्तर पर अर्थात साम्राज्यवादी स्तर पर आकर जन उभार के विरुद्ध अपनी हिफाजत के लिए खुद ही जनता की एकता में दरार पैदा करने का प्रयास कर रहा है। पूंजीवाद का संकट जितना गहरा होता जा रहा है और पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ मेहनतकश जनता का संघर्ष जितना तेज होता जा रहा है, पूंजीवाद उतना ही अधिकाधिक फासिस्ट रुख अख्तियार करता जा रहा है और पूंजीवाद-विरोधी जन आन्दोलन को गलत रास्ते पर भटकाने, गुमराह करने के लिए जनता के धार्मिक, जातीय एवं नस्लवादी जज्बातों को भी उकसा रहा है। इसी वजह से पाश्चात्य बुर्जुआ गणतांत्रिक देशों तक में भी धर्मान्धता, धार्मिक कट्टरता, रंगभेद की अंध-मानसिकता और नस्लवादी विद्वेष से होने वाले दंगों के बढ़ते हुए लक्षण आज प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहे हैं। अतः जब तक पूंजीवाद बरकरार है, तब तक साम्प्रदायगत, जातिगत, नस्लीय आदि जनविरोधी मनोवृत्तियों की उत्पत्ति का मूल कारण भी बना रहेगा और स्वाभाविक तौर पर साम्प्रदायिक दंगे-फसाद होने की जमीन भी वहां तैयार रहेगी। जब मजदूर वर्ग के नेतृत्व में मेहनतकश जनता सत्ता पर कब्जा कर लेगी, पूंजीवाद का नामोनिशां मिटा देगी और सार्थक रूप में समाजवाद कायम करने के लिए जनवादी क्रांति के अधूरे कार्यक्रम को पूरा करेगी, केवल तभी उपराष्ट्रीय, साम्प्रदायिक, जातिगत और नस्लीय समस्याओं का पूरी तरह समाधान होगा। जो लोग वाकई साम्प्रदायिक समस्या और साम्प्रदायिक दंगे-फसादों का सदा के लिए समाधान चाहते हैं, उन्हें इतिहास के इस सबक को अवश्य याद रखना चाहिए और पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने एवं समाजवाद कायम करने के संघर्षों में हाथ बंटाना चाहिए।

तात्कालिक काम

लेकिन जब तक जनता सत्ता अपने हाथ में लेकर समाजवाद कायम करने के जरिये साम्प्रदायिकता को जड़ से खत्म करने में सक्षम नहीं हो

जाती, तब तक क्या हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें? नहीं, ऐसा करना हद दर्जे की मूर्खता होगी। चूंकि भारत एक पूंजीवादी देश है और पूंजीवाद ही साम्प्रदायिक, जातिगत, नस्लीय जैसे जनविरोधी चिंतन व भावना-धारणा को जन्म देता है और पालन-पोषण करता है और यही साम्प्रदायिक व नस्लविद्वेष से जनित दंगों के मूल कारण को बरकरार रखता है, इसलिए निश्चित रूप में हमारे देश में जब-तब साम्प्रदायिक दंगे-फसाद भड़क उठने स्वाभाविक हैं—ऐसी दलील देने का मायने हो जायेगा अदृष्टवाद या नियतिवाद के आगे घुटने टेक देना। हम जानते हैं कि कोई भी घटना अन्य घटनाओं से बिल्कुल अलग-थलग घटना नहीं होती है। इसलिए यह धारणा सही नहीं है कि किसी घटना के घटित होने का कारण मौजूद रहने से ही हर हालत में उसका नतीजा खुद-ब-खुद दिखाई देगा। क्योंकि इस घटना से जुड़ी विभिन्न घटनाएं और शक्तियां भी इस प्रक्रिया पर प्रभाव डालती रहती हैं। कारण का पता लगाकर और उस कारण को सामाजिक जीवन से जड़ से दूर करनेवाली शक्ति को लगातार बढ़ाते जाने के रास्ते ही आम आदमी उस कारण से पैदा होने वाले स्वाभाविक प्रतिफलन को कुछ हद तक सीमित कर सकता है, यहां तक कि सामयिक तौर पर उसे रोक भी सकता है। अत: साम्प्रदायिकता-विरोधी शक्ति के तौर पर जनवादी आन्दोलनों और वर्ग-संघर्षों को लगातार मजबूत करते हुए ही हमारे देश में साम्प्रदायिकता के प्रभाव को हम संकुचित कर सकते हैं और इसी तरीके से साम्प्रदायिक दंगों का कारगर ढंग से प्रतिरोध भी कर सकते हैं।

जनवादी आन्दोलन में जोड़ना होगा सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति का कार्यक्रम

लेकिन इस बात से इनकार हरगिज नहीं किया जा सकता कि अपने देश में अभी तक जनवादी ताकतों ने जितने भी जन आन्दोलन चलाये, वे केवल आर्थिक और राजनैतिक मांगों को मनवाने तक ही सीमित रहे। सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति के कार्यक्रम को जनवादी आन्दोलन में कभी भी शामिल नहीं किया गया। घोषित लक्ष्य की पूर्ति इस तरह के अधूरे कार्यक्रम के द्वारा नहीं हो सकती। इसलिए अतीत की तरह जनवादी आन्दोलन के कार्यक्रम को केवल आर्थिक

और राजनैतिक मांगों के आधार पर ही चलाये गये। इस कार्यक्रम में सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति के हमारे देश में अभी तक अधूरे पड़े हुए कामों को भी शामिल करना होगा। जब तक ये अधूरे काम पूरे नहीं हो जाते और देश की जनता धार्मिक-सामाजिक पूर्वाग्रहों, अंधविश्वासों, कुरीतियों और विचारों की जकड़बंदी से मुक्ति नहीं हो जाती, जब तक सांस्कृतिक-सामाजिक रूप से जनता को बांटनेवाली दीवारों को गिरा नहीं दिया जाता और पूरी जनता को केवल राजनैतिक रूप से ही नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक रूप में भी एक अखण्ड सुसम्बद्ध राष्ट्रीय सत्ता में रूपांतरित नहीं कर दिया जाता, तब तक सही मायने में साम्प्रदायिकता को खत्म नहीं किया जा सकेगा। मैं यहां दोबारा फिर दृढ़तापूर्वक एलान कर देना चाहता हूं कि यह आन्दोलन स्वयं धर्म के खिलाफ जेहाद कतई नहीं है, बल्कि यह आस्तिकों और नास्तिकों, दोनों के ही समानाधिकार और स्वतंत्रता पर आधारित है। मैं जानता हूं कि आगे काफी समय तक धर्म का अस्तित्व तो समाज में बना रहेगा, लेकिन यह व्यक्ति का नितांत निजी मामला होगा। इसके साथ न तो राजसत्ता का कोई संबंध होगा और न ही यह व्यक्ति के सामाजिक क्रियाकलापों पर कोई प्रभाव डालेगा। इसलिए यह आन्दोलन धर्म को उसके यथोचित स्थान पर ही रख रहा है। कोई यह दलील दे सकता है कि यदि समाज में धर्म का अस्तित्व बना रहा, तो यह व्यक्ति की सामाजिक गतिविधियों को लाजिमी तौर पर प्रभावित करेगा। मैं इस तरह की धारणा का कोई वास्तविक आधार नहीं ढूंढ़ पाता हूं। मेरे ख्याल से ऐसा चिंतन धार्मिक रीति-रिवाजों व दस्तूरों को ही खुद धर्म मान लेने की भूल का नतीजा है। धर्म और धार्मिक रीति-रिवाज व दस्तूर—ये दो अलग-अलग चीजें हैं। धार्मिक प्रथाएं, रीति-रिवाज तो अतीत में भी बदलते रहे हैं और भविष्य में भी बदले हुए सामाजिक हालात के साथ मेल खाते हुए और भी बदलेंगे। इसलिए अगर कोई प्रचलित धार्मिक प्रथा, रीति-रिवाजों को बदलने की कोशिश कर रहा है, तो सिर्फ इसलिए उस पर धर्म-विरोधी होने या धर्म-त्यागी होने का इल्जाम नहीं लगाया जा सकता। क्या कमाल अतातुर्क ने आजीवन एक सच्चा मुसलमान बने रहते हुए भी तुर्की के जनवादी विकास के

पथ में बाधक इस्लाम धर्मीय रीति-रिवाजों के खिलाफ संघर्ष नहीं किया था? क्या नासिर मुसलमान नहीं थे? फिर भी क्या उन्होंने अपने मुल्क में इस्लाम धर्म के अनेक रीति-रिवाजों और विचारों का खात्मा नहीं किया था? लगभग हर तरह के प्रचलित इस्लामिक धार्मिक रीति-रिवाजों को न मानने के कारण जिन्ना साहब को कोई मुसलमान क्या 'काफिर' करार देगा। क्या हिन्दुओं ने अपने बहुत सारे पुराने धार्मिक रीति-रिवाजों को छोड़ नहीं दिया है? निश्चय ही, जनवादी आन्दोलन वर्तमान सामाजिक तकाजे से असंगति रखने वाले धार्मिक रीति-रिवाजों और सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ तो अथक संघर्ष चलायेगा, लेकिन इससे यह कतई नहीं समझा जाये कि यह आन्दोलन धार्मिक विश्वास या आम तौर पर स्वयं धर्म के खिलाफ चलाया जायेगा। भारतीय बुर्जुआ वर्ग हमारे देश में सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति का कार्यक्रम अमल में लाने में असमर्थ है। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, यह कहना बेमानी है कि उसके निजी प्रयासों से ही यह काम पूरा किया जा सकता है। इसलिए इस काम को सम्पन्न करने का दारोमदार एकमात्र भारत की जनवादी ताकतों की साझी कोशिशों पर ही निर्भर करता है।

इसलिए इस जनतांत्रिक कन्वेंशन को न केवल देश की बृहत्तर जनवादी ताकतों के साथ संबंध कायम करना होगा और सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति के अधूरे कार्यों को पूरा करने के कार्यक्रम को जनवादी ताकतों द्वारा राजनैतिक व आर्थिक शोषण से निजात पाने के लिए चलाये जा रहे आन्दोलन के कार्यक्रम से जोड़ना होगा, बल्कि पूंजीवादी शोषण के जुए से मुक्ति पाने के उद्देश्य से चलाये जा रहे मेहनतकश अवाम के जुझारू संघर्ष पर इसे मूलतः निर्भर करना होगा। यह समझना जरूरी है कि भय व आतंक के माहौल में रहने और शासक वर्ग की तरफदारी करने पर यहां अल्पसंख्यक सम्प्रदायों की सुरक्षा हरगिज निर्भर नहीं करती है। मजदूर वर्ग की सही क्रांतिकारी पार्टी के नेतृत्व में चलाये जा रहे जनवादी आन्दोलन की शक्ति में बढ़ोतरी ही हमारे मुल्क के अल्पसंख्यक सम्प्रदाय की सुरक्षा की एकमात्र गारंटी है। अतः जनवादी कन्वेंशन को ऐसा कार्यक्रम लेना चाहिए जिससे कि अल्पसंख्यक समुदाय को शासक

बुर्जुआ वर्ग की गिरफ्त से मुक्त किया जा सके और वे बहुसंख्यक समुदाय के जो लोग अपनी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तमाम जनवादी मांगों की प्राप्ति हेतु मौजूदा प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्था के खिलाफ लड़ रहे हैं, उन लोगों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर इस संघर्ष में शामिल हो सकें। अल्पसंख्यक सम्प्रदाय अपनी-अपनी लड़ाई चला सकें, ऐसा कार्यक्रम इस जनतांत्रिक कन्वेंशन में लिया जाना चाहिए। साम्प्रदायिकता व साम्प्रदायिक दंगों के समाधान के लिए सिर्फ प्रशासनिक व्यवस्था का मुंह ताकना बेमानी होगा। क्योंकि यह बात कौन नहीं जानता कि देश का प्रशासनिक तंत्र सामान्य हालात में ही साम्प्रदायिक मानसिकता से संक्रामित होता है, साम्प्रदायिक तनाव के वक्त तो यह और भी विकराल रूप ले लेता है। ठीक उसी तरह, साम्प्रदायिकता की समस्या से निपटने के लिए जनता की सद्‌बुद्धि पर निर्भर करना भी फिजूल है। देश की जनता में सद्‌बुद्धि की कोई कमी नहीं है। लेकिन जब साम्प्रदायिक उत्तेजना का बुखार चढ़ने लगता है, तब सद्‌बुद्धि कोई खास काम नहीं आती है। अतः जब तक साम्प्रदायिकता के पोषक तत्वों को निर्मूल नहीं कर दिया जाता, जब तक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति अधूरी हालत में ही रहेगी, जब तक समाज का जनवादीकरण नहीं कर दिया जाता और धर्म को व्यक्ति के नितांत निजी मामले में तब्दील नहीं कर दिया जाता, तब तक मौजूदा अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होगा। वह ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

कुछ सुझाव

सामाजिक माहौल को ऐसी एक हालत में पहुंचाने के लिए ताकि साम्प्रदायिकता के मसले से निपटा जा सके, मैं फिलहाल निम्नलिखित कार्यक्रम प्रस्तावित करता हूं।

1. शैक्षणिक संस्थाओं को सभी तरह के धार्मिक प्रभावों से मुक्त रखा जाये।
2. सरकार द्वारा आयोजित अथवा सरकारी संरक्षण में होनेवाले समारोहों में किसी भी प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन न किया जाये।

3. अंतरजातीय और अंतरधर्मीय विवाहों को कारगर तौर पर प्रोत्साहन दिया जाये।
4. सामाजिक व धार्मिक अनुष्ठानों व त्यौहारों आदि में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच मेलजोल का मनोभाव तैयार करने के लिए कारगर प्रयास किये जायें।
5. साम्प्रदायिकता की समस्या व उसके उन्मूलन के उपायों पर विचार-विमर्श के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों को लेकर जनसभाएं और छोटी-छोटी ग्रुप सभाएं अधिकाधिक संख्या में आयोजित की जायें।
6. साम्प्रदायिकता की समस्या पर लिखित रचनाओं सहित विभिन्न भाषाओं में सामयिक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित की जायें। ऐसी तमाम सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में खुले या छिपे तौर पर साम्प्रदायिकता की पैरवी करनेवाली किसी भी रचना को छापा न जाये।
7. साम्प्रदायिकता-विरोधी आन्दोलन चलाने के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को लेकर जन समितियों का हर स्तर पर गठन किया जाये। इस तरफ खास ध्यान रखना चाहिए कि इन आन्दोलनों में बड़ी तादाद में जनता की शिरकत हो। वे सारी समितियां हर तरह के सामाजिक अन्याय, अत्याचार, आर्थिक और राजनैतिक जुल्मों के खिलाफ जनता के हर संघर्ष को एक स्वर में समर्थन और प्रोत्साहन देंगी।
8. जो साम्प्रदायिक मानसिकता को लेकर चलने वाले हों या जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साम्प्रदायिकता के प्रचार-प्रसार में मशगूल हों या जिनके काम किसी तरह साम्प्रदायिकता फैलाने में मददगार हों, सामाजिक अनुमोदन लेकर ऐसे तत्वों का सामाजिक बहिष्कार तक किया जा सके—ऐसा मनोभाव तैयार करने के लिए कारगर कोशिश की जानी चाहिए।

दोस्तो, इसके अलावा करने लायक कुछ उपाय और भी हैं। लेकिन, मेरे ख्याल से फिलहाल हम इन्हीं को लेकर शुरू कर सकते हैं। अपनी बात पूरी करने से पहले मैं पुनः निवेदन करता हूं कि

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगों की विकट समस्या के हल के लिए वही पुराना घिसापिटा रास्ता अख्तियार करके नाकामी का मुंह देखने के बजाय क्यों न शुरू से ही सही दिशा में काम शुरू किया जाये। लोगों में सद्‌बुद्धि जागृत करने और राष्ट्र-हित की हिफाजत करने की बात कहकर साम्प्रदायिकता का मुकाबला करने के निमित्त की गयी थोथी मानवीय अपीलों को सुनते-सुनते मेरे कान पक गये हैं। तब क्यों न साम्प्रदायिक शांति और सौहार्द स्थापित करने का गुणगान करनेवाले नीरस और उबाऊ भाषणों की जगह सामाजिक व सांस्कृतिक क्रांति के ठोस कार्यक्रम को अमल में लाते हुए इस देश की जनता की सही दिशा में अगुआई करने के लिए आगे आयें। मैं आशा करता हूं कि जनतांत्रिक कन्वेंशन की ओर से यह ऐतिहासिक फर्ज अवश्य निभाया जायेगा।

धन्यवाद दोस्तो और प्रतिनिधि भाइयो। इति —

आपका

शिवदास घोष

महासचिव

सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर ऑफ इण्डिया

48, धर्मतला स्ट्रीट, कोलकाता-100013

15 नवम्बर, 1964

साम्प्रदायिक सद्‌भाव पर दिल्ली में 29-30 नवम्बर, 1964
में हुए एक 'राष्ट्रीय जनतांत्रिक कन्वेंशन'
में प्रतिनिधियों के नाम भेजा गया
लिखित भाषण।